INTERNATIONAL JOURNAL OF NOVEL RESEARCH AND DEVELOPMENT (IJNRD)
© 2026 IJNRD | Volume 11, Issue 7, July 2026 | ISSN: 2456-4184 | IJNRD.ORG

भारतीय संविधान और भारतीय विधिशास्त्र: एक दार्शनिक एवं विधिक अध्ययन

एक विस्तृत शोध आलेख (Research Article)
विषय: संवैधानिक विधिशास्त्र और विधिक दर्शन शास्त्र

[1]सूरज भान जैमन, [2]डॉ. सुरभि दाधीच
[1]शोधार्थी, [2]शोध पर्यवेक्षक, सहायक प्रोफ़ेसर
विधि विभाग
एपेक्स यूनिवर्सिटी, जयपुर, राजस्थान, भारत

शोध सारांश (Abstract): *यह शोध पत्र भारतीय संविधान और भारतीय विधिशास्त्र (Indian Jurisprudence) के बीच के प्रगाढ़ दार्शनिक और विधिक अंतर्संबंधों का एक व्यापक, बहुआयामी और समालोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भारतीय संविधान महज एक विधिक या राजनीतिक दस्तावेज नहीं है, बल्कि यह सदियों पुरानी भारतीय विचार परंपरा, सार्वभौमिक न्याय की अवधारणा और आधुनिक पाश्चात्य लोकतांत्रिक मूल्यों का एक अभूतपूर्व और अनूठा संश्लेषण है। प्रस्तुत अध्ययन में प्राचीन भारतीय 'धर्म' की अवधारणा की तुलना आधुनिक 'विधि के शासन' (Rule of Law) और 'संवैधानिक नैतिकता' (Constitutional Morality) से की गई है। इसके साथ ही यह प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार भारतीय विधिशास्त्र ने पाश्चात्य कानूनी सिद्धांतों को अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप ढालकर एक स्वायत्त विधिक चेतना का निर्माण किया है। शोध के अंतर्गत संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार (भाग ३), राज्य के नीति निदेशक तत्व (भाग ४), और मौलिक कर्तव्यों (भाग ४-क) का दार्शनिक मूल्यांकन किया गया है। इसके अतिरिक्त, न्यायपालिका द्वारा प्रतिपादित 'मूल ढांचे के सिद्धांत' (Basic Structure Doctrine) और लोकहित वाद (PIL) के समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र का भी गहन परीक्षण किया गया है। अंततः, यह शोध पत्र यह प्रतिपादित करता है कि भारतीय विधिशास्त्र एक जीवंत, गतिशील और प्रगतिशील विधिक चेतना है, जो सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा और कानून की सर्वोच्चता को अक्षुण्ण रखने के लिए निरंतर विकास की प्रक्रिया में अग्रसर है।*

कीवर्ड्स (Keywords): भारतीय संविधान, भारतीय विधिशास्त्र, विधिक दर्शन, धर्म, विधि का शासन, संवैधानिक नैतिकता, मूल ढांचे का सिद्धांत, सामाजिक न्याय, मानवीय गरिमा।

१. प्रस्तावना (Introduction)

किसी भी संप्रभु राष्ट्र का संविधान केवल उसकी प्रशासनिक व्यवस्था को संचालित करने वाली नियमावली नहीं होता, बल्कि वह उस राष्ट्र की ऐतिहासिक यात्रा, सामूहिक चेतना, सांस्कृतिक मर्म और भविष्य की दार्शनिक आकांक्षाओं का विधिक प्रकटीकरण होता है। २६ नवंबर १९४९ को अंगीकृत और २६ जनवरी १९५० को लागू हुआ भारतीय संविधान विश्व का सबसे विस्तृत और व्यापक लिखित विधिक दस्तावेज है। परंतु इसकी वास्तविक महानता इसके वृहद आकार या इसके अनुच्छेदों की संख्या में निहित नहीं है, बल्कि उस प्रगाढ़ दार्शनिक अधिष्ठान में है जिसने भारत जैसी अत्यंत विशाल, विविधतापूर्ण, बहु-भाषी और बहु-सांस्कृतिक सभ्यता को एक सुदृढ़ विधिक सूत्र में पिरोया है। भारतीय संविधान का निर्माण एक ऐसे ऐतिहासिक मोड़ पर हुआ जब देश औपनिवेशिक दासता की बेड़ियों को तोड़कर एक आधुनिक, समतावादी और लोकतांत्रिक युग में प्रवेश कर रहा था।

भारतीय विधिशास्त्र (Indian Jurisprudence) का विकास किसी शून्य या वैचारिक निर्वात में नहीं हुआ है। इसके विकास की प्रक्रिया दो अत्यंत भिन्न किंतु प्रभावशाली विधिक धाराओं के समागम से निर्मित हुई है। एक ओर जहाँ इसकी जड़ें प्राचीन भारतीय दर्शन, वैदिक संहिताओं, उपनिषदों, बौद्ध-जैन दर्शन और 'धर्म' की व्यापक संकल्पना में गहराई से धंसी हुई हैं, वहीं दूसरी ओर इस पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कानूनी ढांचे, कॉमन लॉ (Common Law) प्रणाली, पाश्चात्य प्राकृतिक विधि (Natural Law) और विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र (Analytical Jurisprudence) का अत्यंत गहरा और अमिट प्रभाव है। इस प्रकार, भारतीय संविधान और विधिशास्त्र का अध्ययन एक ऐसे दार्शनिक चौराहे पर खड़े होने जैसा है, जहाँ पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और आधुनिक, तथा आध्यात्मिक और व्यावहारिक दृष्टिकोणों का परस्पर संवाद और समन्वय होता है।

विधिक दर्शनशास्त्र (Legal Philosophy) के दृष्टिकोण से, भारतीय संविधान एक अद्वितीय प्रयोग है। पश्चिमी राष्ट्रों में संविधानवाद का विकास प्रायः समरूप समाजों में हुआ, जहाँ अधिकारों और कर्तव्यों की अवधारणाएं एकल सांस्कृतिक मूल्यों से उत्पन्न हुईं। इसके विपरीत, भारत के संविधान निर्माताओं के समक्ष यह अत्यंत जटिल चुनौती थी कि वे एक जटिल, बहुस्तरीय और ऐतिहासिक रूप से असमानताओं से ग्रस्त समाज को बिना उसकी सांस्कृतिक विविधता को नष्ट किए, एक आधुनिक लोकतांत्रिक और समतावादी न्यायशास्त्रीय ढांचे में कैसे ढालें। डॉ. भीमराव अंबेडकर, सर बी.एन. राव, जवाहरलाल नेहरू, और अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर जैसे मनीषियों ने यह सुनिश्चित किया कि नए स्वतंत्र भारत की विधिक व्यवस्था किसी संकीर्ण

धार्मिक या राजनीतिक कट्टरता पर आधारित न होकर, न्याय, करुणा, समता और मानवीय गरिमा के उन शाश्वत दार्शनिक सिद्धांतों पर टिकी हो जो भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक विरासत के मूल तत्व रहे हैं।

प्रस्तुत शोध पत्र का मूल उद्देश्य भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों और उनकी न्यायिक व्याख्याओं के पीछे कार्य कर रही दार्शनिक चेतना का उद्घाटन करना है। यह अध्ययन इस बात की पड़ताल करेगा कि किस प्रकार भारतीय विधिशास्त्र ने पाश्चात्य न्यायशास्त्र के सिद्धांतों (जैसे जॉन ऑस्टिन का संप्रभुता का सिद्धांत, जेरेमी बेंथम का उपयोगितावाद, जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धांत और रोस्को पाउंड का समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र) को आत्मसात करते हुए भी अपनी एक विशिष्ट, मौलिक और भारतीय पहचान बनाए रखी है। यह शोध विधिकpositivism (कानूनी सकारात्मकता) और प्राकृतिक विधि के द्वंद्व के आलोक में भारतीय संवैधानिक दर्शन की मीमांसा करने का एक विनम्र अकादमिक प्रयास है।

२. साहित्य समीक्षा (Literature Review)

प्रस्तावित शोध लेख "**भारतीय संविधान और भारतीय विधिशास्त्र: एक दार्शनिक एवं विधिक अध्ययन**" के संदर्भ में यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी है क्योंकि यह भारतीय संविधान के व्यावहारिक एवं संस्थागत पक्ष को स्पष्ट करती है। कश्यप यह प्रतिपादित करते हैं कि भारतीय संविधान लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व, विधि के शासन (Rule of Law), संवैधानिक सर्वोच्चता तथा जन-प्रतिनिधित्व के सिद्धांतों पर आधारित है। उनके अनुसार संसद संविधान की भावना के अनुरूप कार्य करते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों को व्यवहार में परिणत करती है। इस प्रकार पुस्तक भारतीय विधिशास्त्र में विधि, राज्य एवं शासन संस्थाओं के परस्पर संबंधों को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण आधार प्रदान करती है।

डॉ. बी. एन. मणि त्रिपाठी की यह कृति प्रस्तुत शोध लेख "**भारतीय संविधान और भारतीय विधिशास्त्र: एक दार्शनिक एवं विधिक अध्ययन**" के लिए एक प्रासंगिक संदर्भ ग्रंथ के रूप में कार्य करती है, क्योंकि यह संविधान के विधिशास्त्रीय एवं दार्शनिक आधारों के विश्लेषण हेतु आवश्यक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण उपलब्ध कराती है।लेखक ने विधि की प्रकृति, वैधता, नैतिक आधार तथा सामाजिक उपयोगिता का समालोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया है कि विधि केवल राज्य की आज्ञा नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था, न्याय तथा लोककल्याण की स्थापना का प्रभावी माध्यम भी है। इसके अतिरिक्त, प्राकृतिक विधि, विधिक प्रत्यक्षवाद तथा अन्य प्रमुख विधिशास्त्रीय विचारधाराओं के तुलनात्मक विवेचन के माध्यम से पुस्तक भारतीय संविधान के मूल संरचना सिद्धांत (Basic Structure Doctrine), न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review), संवैधानिक नैतिकता (Constitutional Morality) तथा विधि के शासन जैसी संवैधानिक अवधारणाओं की दार्शनिक एवं विधिक व्याख्या को समझने में महत्वपूर्ण आधार उपलब्ध कराती है।

३. भारतीय विधिशास्त्र की ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि (Historical and Philosophical Background)

३.१ 'धर्म' और 'विधि' का दार्शनिक अंतर्संबंध

भारतीय विधिशास्त्र को गहराई से समझने के लिए 'धर्म' शब्द के मूल दार्शनिक और कानूनी अर्थ को समझना अपरिहार्य है। पाश्चात्य समीकरणों में 'लॉ' (Law) का तात्पर्य सामान्यतः राज्य या संप्रभु (Sovereign) द्वारा पारित और लागू किए गए नियमों के समुच्चय से होता है। जॉन ऑस्टिन के शब्दों में, 'कानून संप्रभु का आदेश है जिसके पीछे संप्रभु की दंडात्मक शक्ति (Sanction) होती है।' परंतु, प्राचीन भारतीय चिंतन में 'धर्म' की संकल्पना इससे कहीं अधिक व्यापक, सूक्ष्म और पवित्र थी। धर्म केवल किसी विशिष्ट पूजा-पद्धति, मत या संप्रदाय का नाम नहीं था, बल्कि यह संपूर्ण ब्रह्मांडीय व्यवस्था (ऋत), नैतिक नियम, सामाजिक कर्तव्य, सदाचार और सार्वभौमिक न्याय का एक एकीकृत नाम था।

महाभारत के कर्णपर्व में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है: 'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥' अर्थात्, जो समाज को धारण करता है, वही धर्म है; धर्म ही प्रजा को परस्पर बांधे रखता है, अराजकता को रोकता है और सामाजिक सुव्यवस्था को सुनिश्चित करता है। प्राचीन भारतीय न्यायविदों जैसे मनु, याज्ञवल्क्य, नारद और कौटिल्य ने यद्यपि राजा को विधिक और प्रशासनिक व्यवस्था का केंद्र माना, किंतु उन्होंने राजा को कभी भी कानून से ऊपर या निरंकुश संप्रभु के रूप में स्वीकार नहीं किया। राजा 'धर्मदंड' का प्रयोग करने का अधिकारी तो था, परंतु वह स्वयं सर्वोपरि 'धर्म' के अधीन था। यदि राजा धर्म की सीमाओं का उल्लंघन करता था, तो वह न्याय के सिद्धांत के अनुसार दंडनीय और च्युत होने योग्य माना जाता था। यह दार्शनिक स्थापना आधुनिक 'विधि के शासन' (Rule of Law) और 'सीमित सरकार' (Limited Government) के सिद्धांतों के अत्यंत निकट है, जहाँ शासक की शक्तियां कानून के सिद्धांतों द्वारा सीमित होती हैं।

३.२ प्राचीन न्यायशास्त्र से आधुनिक संविधानवाद तक का संक्रमण

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल के आगमन के साथ ही भारत की पारंपरिक और स्वदेशी विधिक व्यवस्था में एक बड़ा विच्छेद (Rupture) आया। अंग्रेजों ने भारतीय समाज को नियंत्रित करने के लिए अपनी 'कॉमन लॉ' प्रणाली को लागू किया और संहिताबद्ध कानूनों (Codified Laws) की परंपरा की शुरुआत की। इसके परिणामस्वरूप भारतीय विधिक प्रणाली में पाश्चात्य विश्लेषणात्मक सकारात्मकता (Analytical Positivism) का प्रभुत्व स्थापित हो गया, जहाँ कानून की वैधता का एकमात्र स्रोत राज्य की शक्ति बन गया। परंतु, इस औपनिवेशिक थोपे गए कानूनी ढांचे के भीतर भी भारतीय समाज की आंतरिक न्याय-चेतना पूरी तरह समाप्त नहीं हुई।

जब स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ, तब महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले जैसे नेताओं ने ब्रिटिश विधिक व्यवस्था की अनैतिकता को चुनौती देने के लिए पुनः नैतिक और प्राकृतिक न्याय के दार्शनिक सिद्धांतों का सहारा लिया। गांधी जी का 'सत्याग्रह' वास्तव में सकारात्मक कानून (Positive Law) के विरुद्ध प्राकृतिक विधि और अंतरात्मा की आवाज का एक दार्शनिक विद्रोह था। उनका मानना था कि जो कानून न्याय और मानवीय गरिमा के सिद्धांतों के विरुद्ध हो, उसे मानने के लिए नागरिक बाध्य नहीं हैं। इस वैचारिक पृष्ठभूमि ने संविधान सभा के सदस्यों को गहराई से प्रभावित किया। यही कारण है कि जब स्वतंत्र भारत का संविधान लिखा गया, तब उसमें केवल

ब्रिटिश शासन की कानूनी औपचारिकता को ही नहीं अपनाया गया, बल्कि उसमें एक ऐसी दार्शनिक अंतरात्मा (Sovereign Conscience) को पिरोया गया जो प्राचीन भारतीय लोक-कल्याणकारी आदर्श 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और आधुनिक पश्चिमी समतावादी सिद्धांतों का एक उत्कृष्ट समन्वय थी।

४. संविधान की प्रस्तावना: दर्शन और मूल्यों का महासागर (The Preamble)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना (Preamble) इसके संपूर्ण दार्शनिक और विधिक मर्म का संकेंद्रित निचोड़ है। विधिक मनीषी एन.ए. पालकीवाला ने प्रस्तावना को संविधान का 'पहचान पत्र' कहा था, जबकि डॉ. के.एम. मुंशी ने इसे हमारे संप्रभु लोकतांत्रिक गणराज्य की 'जन्मकुंडली' (Horoscope) के रूप में परिभाषित किया था। प्रस्तावना का एक-एक शब्द एक गहरे राजनीतिक, सामाजिक और न्यायशास्त्रीय दर्शन की घोषणा करता है, जो पूरे संवैधानिक ढांचे को दिशा प्रदान करता है।

प्रस्तावना की शुरुआत 'हम भारत के लोग' (We, the People of India) इन ऐतिहासिक शब्दों से होती है। यह वाक्य दार्शनिक रूप से यह उद्घोषित करता है कि भारतीय राज्य व्यवस्था में संप्रभुता का अंतिम स्रोत किसी राजा, ब्रिटिश संसद, या किसी विशिष्ट संस्था में नहीं, बल्कि भारत की संपूर्ण जनता में सामूहिक रूप से निहित है। यह संकल्पना जीन-जैक्स रूसो के 'लोकप्रिय संप्रभुता' (Popular Sovereignty) और थॉमस हॉब्स, जॉन लॉक तथा रूसो के 'सामाजिक समझौते' (Social Contract) के दर्शन से मेल खाती है, जहाँ जनता अपनी सामूहिक इच्छा (General Will) के माध्यम से एक विधिक सत्ता का सृजन करती है। भारत के संदर्भ में यह इस मायने में भी महत्वपूर्ण है कि यह देश की बहुधार्मिक और बहुजातीय जनता को एक एकल राजनीतिक पहचान प्रदान करता है।

प्रस्तावना में उल्लिखित 'न्याय' (Justice) की संकल्पना अत्यंत व्यापक है। यहाँ न्याय शब्द केवल अदालती कार्यवाहियों या कानूनी औपचारिकताओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह स्पष्ट रूप से 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' को समाहित करता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से, यह संकल्पना जॉन रॉल्स के 'न्याय के सिद्धांत' (Theory of Justice) और विशेषकर उनके 'वितरणात्मक न्याय' (Distributive Justice) के विचार के समान है। रॉल्स का मानना था कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि उनसे समाज के सबसे वंचित वर्ग को अधिकतम लाभ हो। भारतीय संविधान निर्माताओं ने 'सामाजिक न्याय' को प्राथमिकता दी क्योंकि वे जानते थे कि सदियों की जातिवादी व्यवस्था, छुआछूत और लैंगिक भेदभाव से जकड़े समाज में जब तक सामाजिक समता नहीं आएगी, तब तक राजनीतिक लोकतंत्र का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। आर्थिक न्याय का तात्पर्य धन के संकेंद्रण को रोकना, संसाधनों का न्यायसंगत वितरण करना और प्रत्येक नागरिक के लिए गरिमापूर्ण आजीविका के साधन सुनिश्चित करना है, जो कि कल्याणकारी समाजवादी दर्शन की मूल आत्मा है।

इसके अतिरिक्त, 'स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व' (Liberty, Equality, and Fraternity) का त्रिकोण, यद्यपि १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति के ऐतिहासिक नारों से प्रेरित है, परंतु भारतीय विधिक दर्शन में इसका एक विशिष्ट अर्थ है। संविधान सभा में दिए गए अपने अंतिम भाषण में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इन तीनों के अटूट संबंध पर बल देते हुए कहा था कि इन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। वे न्यायशास्त्र के एक 'पवित्र त्रिमूर्ति' (Union of Trinity) हैं। यदि समता के बिना स्वतंत्रता दी जाएगी, तो वह बहुसंख्यक समाज पर कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों के प्रभुत्व को स्थापित कर देगी। यदि स्वतंत्रता के बिना समता लागू की जाएगी, तो वह व्यक्तिगत मौलिकता, रचनात्मकता और उद्यमशीलता का गला घोंट देगी। और बंधुत्व के बिना, स्वतंत्रता और समता कभी भी समाज का स्वाभाविक हिस्सा नहीं बन सकतीं। बंधुत्व का यह दार्शनिक सिद्धांत भारतीय उपनिषदों के 'वसुधैव कुटुंबकम्' (संपूर्ण पृथ्वी ही मेरा परिवार है) और बौद्ध दर्शन के 'करुणा' व 'मैत्री' के सिद्धांतों के पूर्णतः अनुकूल है, जो नागरिकों के बीच एक नैतिक और भावनात्मक जुड़ाव की मांग करता है।

५. मौलिक अधिकार और मानवीय गरिमा का विधिक दर्शन (Fundamental Rights and Human Dignity)

संविधान का भाग ३ (अनुच्छेद १२ से ३५) मौलिक अधिकारों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है, जिसे भारतीय संविधान का 'मैग्नाकार्टा' (Magna Carta) कहा जाता है। विधिक दर्शनशास्त्र के संदर्भ में, मौलिक अधिकार 'प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत' (Theory of Natural Rights) का संवैधानिक रूपांतरण हैं। जॉन लॉक जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों का तर्क था कि मनुष्य को जन्मजात कुछ अधिकार (जैसे जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति) प्राप्त होते हैं, जिन्हें प्रकृति ने दिया है और इसलिए कोई भी सांसारिक सरकार या संप्रभु उन्हें छीन नहीं सकती। राज्य का एकमात्र उद्देश्य इन अधिकारों की रक्षा करना है। भारतीय विधिशास्त्र ने इन अधिकारों को केवल नैतिक दावों के रूप में नहीं छोड़ा, बल्कि उन्हें अनुच्छेद ३२ के तहत न्यायिक प्रवर्तनीयता (Judicial Enforceability) प्रदान की, जो अपने आप में विधिक दर्शन का एक अनूठा उदाहरण है।

अनुच्छेद १४, जो 'विधि के समक्ष समता' (Equality before Law) और 'विधि के समान संरक्षण' (Equal Protection of the Laws) की गारंटी देता है, पाश्चात्य विधिक दर्शन के दो महत्वपूर्ण सिद्धांतों का मिश्रण है। प्रथम भाग ब्रिटिश विधिवेत्ता ए.वी. डाइसी के 'विधि के शासन' (Rule of Law) से प्रेरित है, जो यह घोषित करता है कि देश में कोई भी व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है और सभी नागरिक एक ही साधारण अदालतों के अधीन हैं। लेकिन इसका दूसरा भाग 'विधि का समान संरक्षण' अमेरिकी संवैधानिक दर्शन से लिया गया है, जो यह स्वीकार करता है कि असमान लोगों के साथ समान व्यवहार करना भी अन्याय है। इसलिए, यह राज्य को कमजोरों, महिलाओं, बच्चों, और सामाजिक-शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए 'सकारात्मक भेदभाव' (Positive Discrimination) या 'संरचनात्मक आरक्षण' की अनुमति देता है। यह दार्शनिक रूप से समता को केवल एक औपचारिक (Formal) ढांचा न मानकर उसे वास्तविक, परिणामोन्मुखी और तात्त्विक समता (Substantive Equality) के रूप में स्थापित करता है।

अनुच्छेद १९ के तहत प्रदान की गई विभिन्न स्वतंत्रताएं, विशेष रूप से 'वाक और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' (Freedom of Speech and Expression), किसी भी जीवंत और बहुलवादी लोकतंत्र की रीढ़ हैं। इसका दार्शनिक आधार जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रसिद्ध निबंध 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) में मिलता है। मिल का मत था कि सत्य की खोज और समाज के बौद्धिक विकास के लिए विचारों के मुक्त बाजार (Marketplace of Ideas) का होना अनिवार्य है। हर व्यक्ति को अपनी बात कहने का अधिकार होना चाहिए, भले ही उसके विचार संपूर्ण समाज के विपरीत क्यों न हों, क्योंकि

असहमति ही प्रगति का आधार है। भारतीय विधिशास्त्र ने इस दार्शनिक विचार को स्वीकार किया है, किंतु साथ ही अनुच्छेद १९(२) के तहत राष्ट्र की संप्रभुता, अखंडता और लोक व्यवस्था के हित में 'युक्तियुक्त निबंधनों' (Reasonable Restrictions) का भी प्रावधान किया है, जो स्वतंत्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व के बीच एक परिपक्व संतुलन को दर्शाता है।

भारतीय संवैधानिक विधिशास्त्र में सबसे क्रांतिकारी और दार्शनिक रूप से समृद्ध विकास अनुच्छेद २१ के अंतर्गत हुआ है, जो 'प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण' (Protection of Life and Personal Liberty) की बात करता है। १९५० के 'ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने इस अनुच्छेद की अत्यंत संकुचित और अक्षरात्मक व्याख्या की थी, जहाँ न्यायालय पर पाश्चात्य विधिक सकारात्मकता (Legal Positivism) का प्रभाव था। न्यायालय का मानना था कि यदि कार्यपालिका ने 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) का पालन किया है, तो किसी नागरिक के जीवन या स्वतंत्रता को छीना जा सकता है, चाहे वह कानून खुद कितना भी अन्यायी क्यों न हो। परंतु, १९७८ के 'मेनका गांधी बनाम भारत संघ' के ऐतिहासिक मामले में न्यायालय ने विधिक दर्शन का एक नया अध्याय लिखा। न्यायालय ने अमेरिकी विधिशास्त्र के 'उचित विधिक प्रक्रिया' (Due Process of Law) के दर्शन को स्वीकार करते हुए कहा कि केवल कानून की प्रक्रिया होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि वह प्रक्रिया 'न्यायसंगत, निष्पक्ष और उचित' (Just, Fair, and Reasonable) होनी चाहिए। इसके बाद से, अनुच्छेद २१ का दायरा इतना विस्तृत हो गया है कि इसमें मानवीय गरिमा के साथ जीने का अधिकार, स्वच्छ पर्यावरण का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, और हाल ही में 'पुट्टस्वामी मामले' (२०१७) के तहत प्रतिपादित 'निजता का अधिकार' (Right to Privacy) भी शामिल हो गया है। यह विधिक विकास दर्शाता है कि भारतीय विधिशास्त्र किस प्रकार अक्षरात्मक व्याख्या (Literal Interpretation) से ऊपर उठकर दार्शनिक और उद्देश्यपरक व्याख्या (Purposive Interpretation) की ओर अग्रसर हुआ है।

६. राज्य के नीति निदेशक तत्व: सामाजिक-आर्थिक दर्शन (Directive Principles of State Policy)

संविधान का भाग ४ (अनुच्छेद ३६ से ५१) राज्य के नीति निदेशक तत्वों (DPSP) से संबंधित है, जिन्हें आयरलैंड के संविधान से प्रेरित होकर शामिल किया गया था। विधिक दर्शन के नजरिए से, यदि भाग ३ राजनीतिक लोकतंत्र और नागरिक स्वतंत्रताओं का घोषणापत्र है, तो भाग ४ सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का दार्शनिक खाका है। यह भाग भारत को एक 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) के रूप में परिभाषित करता है, जो १९वीं और २०वीं सदी के उपयोगितावादी दर्शन (Utilitarianism - जेरेमी बेंथम और जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत: 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख') और फेबियन समाजवाद (Fabian Socialism) का एक अत्यंत सुंदर मिश्रण है।

अनुच्छेद ३७ स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि ये नीति निदेशक तत्व किसी न्यायालय द्वारा बाध्यकारी या प्रवर्तनीय नहीं ठहराए जा सकते। इसके बावजूद, यह अनुच्छेद यह भी स्थापित करता है कि ये तत्व देश के शासन में 'मूलभूत' (Fundamental in the governance of the country) हैं और कानून बनाते समय इन सिद्धांतों को लागू करना राज्य का परम कर्तव्य होगा। यह कानूनी सकारात्मकता और प्राकृतिक विधि के बीच का एक अनूठा विधिशास्त्रीय प्रयोग है। जहाँ एक ओर सकारात्मक कानून के पैरोकार इसे केवल 'नैतिक उपदेश' मानकर इसकी आलोचना करते हैं, वहीं समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र के विद्वान इसे राज्य की विधिक नीतियों का मार्गदर्शक सिद्धांत मानते हैं।

नीति निदेशक तत्वों के दार्शनिक ताने-बाने में तीन प्रमुख वैचारिक धाराएं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं: **१. समाजवादी और कल्याणकारी सिद्धांत**: इसके अंतर्गत अनुच्छेद ३८ राज्य को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने का निर्देश देता है जहाँ लोक कल्याण की अभिवृद्धि हो और आय, स्थिति तथा अवसरों की असमानता को न्यूनतम किया जा सके। अनुच्छेद ३९ भौतिक संसाधनों के स्वामित्व और नियंत्रण को इस प्रकार वितरित करने की बात करता है जिससे सामूहिक हित सर्वोत्तम रूप से सध सके। यह सीधे तौर पर मार्क्सवादी और समाजवादी दर्शन के आर्थिक समतावाद को लोकतांत्रिक ढांचे के भीतर लागू करने का प्रयास है। **२. गांधीवादी दर्शन**: भारतीय संविधान में महात्मा गांधी के 'हिंद स्वराज' और सत्ता के विकेंद्रीकरण के दर्शन को भाग ४ में विशेष स्थान दिया गया है। अनुच्छेद ४० के तहत ग्राम पंचायतों का गठन, अनुच्छेद ४३ के तहत ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना, और अनुच्छेद ४७ के तहत स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नशीले पदार्थों और मदिरा के सेवन पर प्रतिबंध लगाना गांधीवादी नैतिक और सामाजिक दर्शन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। **३. उदारवादी-बौद्धिक सिद्धांत:** इसके अंतर्गत संपूर्ण देश के लिए एक 'समान नागरिक संहिता' (Uniform Civil Code - अनुच्छेद ४४) की आकांक्षा, पर्यावरण का संरक्षण और वन्यजीवों की रक्षा (अनुच्छेद ४८-क), और अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बढ़ावा देना (अनुच्छेद ५१) शामिल हैं। यह वैश्विक स्तर पर एक प्रगतिशील, आधुनिक और तर्कसंगत विधिक समाज की स्थापना के दर्शन को प्रतिबिंबित करता है।

दशकों तक भारतीय न्यायपालिका में इस बात को लेकर एक गंभीर द्वंद्व रहा कि यदि भाग ३ (मौलिक अधिकार) और भाग ४ (नीति निदेशक तत्व) के बीच कोई टकराव उत्पन्न हो, तो किसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए। 'चंपाकम दोराईराजन मामले' (१९५१) में न्यायालय ने निदेशक तत्वों को मौलिक अधिकारों का 'अधीनस्थ' माना था। परंतु, विधिक दर्शन के क्रमिक विकास के साथ न्यायालय ने इस संकुचित दृष्टिकोण को त्याग दिया। अंततः, 'मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ' (१९८०) के ऐतिहासिक मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह अत्यंत महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत प्रतिपादित किया कि भारतीय संविधान की आधारशिला मौलिक अधिकारों और नीति निदेशक तत्वों के बीच के 'संतुलन' पर टिकी हुई है। वे दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक ही रथ के दो पहिए हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। न्यायपालिका का यह दृष्टिकोण भारतीय दर्शन के 'मध्यम मार्ग' और जैन दर्शन के 'स्याद्वाद' या 'अनेकांतवाद' (जहाँ सत्य के बहुआयामी रूपों को स्वीकार किया जाता है) के पूर्णतः समरूप है।

७. मौलिक कर्तव्य: प्राचीन 'ऋण' परंपरा का संवैधानिक पुनर्जीवन (Fundamental Duties)

पश्चिमी विधिक दर्शन की एक बड़ी सीमा यह रही है कि यह मुख्य रूप से 'अधिकार-केंद्रित' (Rights-centric) रहा है। चाहे वह जॉन लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत हो या रोनाल्ड ड्वॉर्किन का 'अधिकारों को तुरुप का पत्ता' (Rights as Trumps) मानने का विचार, वहाँ व्यक्ति सदैव अपने अधिकारों के लिए राज्य के विरुद्ध खड़ा दिखाई देता है। इसके विपरीत, पारंपरिक भारतीय दर्शन और विधिशास्त्र हमेशा से 'कर्तव्य-

केंद्रित' (Duty-centric) रहा है। प्राचीन विधिक ग्रंथों में 'अधिकार' जैसी कोई पृथक विधिक संकल्पना नहीं थी, बल्कि यह माना जाता था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने 'धर्म' या कर्तव्य का ईमानदारी से पालन करे, तो सभी के अधिकार स्वतः ही सुरक्षित हो जाएंगे। भगवद्गीता का कालजयी संदेश 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' व्यक्ति को फल की चिंता किए बिना निरंतर अपने विधिक और नैतिक कर्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति के जीवन को 'ऋण' की संकल्पना से जोड़ा गया था। यह माना जाता था कि जन्म लेते ही मनुष्य पर देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण होते हैं, जिन्हें चुकाने के लिए उसे समाज, प्रकृति और परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था। जब १९५० में भारत का संविधान लागू हुआ, तब संविधान निर्माताओं ने मूल पाठ में कर्तव्यों की किसी सूची को शामिल नहीं किया था, क्योंकि उनका यह अटूट विश्वास था कि भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक विरासत के कारण स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ है। परंतु, समय के साथ नागरिक चेतना में आए बदलावों और राजनीतिक परिस्थितियों के आलोक में यह महसूस किया गया कि अधिकारों के साथ-साथ नागरिकों को उनके संवैधानिक कर्तव्यों का स्मरण कराना भी आवश्यक है।

इसी उद्देश्य से, आपातकाल के दौरान वर्ष १९७६ में स्वर्ण सिंह समिति की सिफारिशों के आधार पर ४२वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग ४-क और अनुच्छेद ५१-क जोड़ा गया, जिसके तहत १० (और बाद में ८६वें संशोधन २००२ द्वारा ११वां) मौलिक कर्तव्यों को समाविष्ट किया गया। इन कर्तव्यों में संविधान का पालन करना, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करना, भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करना, देश की सामासिक संस्कृति (Composite Culture) की समृद्ध विरासत का सम्मान करना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Temper), मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करना शामिल है।

दार्शनिक रूप से, मौलिक कर्तव्य इस परम सत्य को रेखांकित करते हैं कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बिना कर्तव्य के अधिकार निरंकुशता और सामाजिक अराजकता को जन्म देते हैं, और बिना अधिकार के कर्तव्य व्यक्ति को दासता के गर्त में धकेल देते हैं। महात्मा गांधी ने एक बार लिखा था कि 'अधिकारों का वास्तविक स्रोत हमारा कर्तव्य है। यदि हम अपने कर्तव्यों का पालन करें, तो अधिकार हमें बहुत दूर ढूंढने नहीं पड़ेंगे।' इस प्रकार, भारतीय विधिशास्त्र का यह विशिष्ट पहलू प्राचीन भारतीय कर्तव्य-चेतना और आधुनिक लोकतांत्रिक नागरिक बोध का एक उत्कृष्ट और परिपक्व सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

८. न्यायपालिका का समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र: लोकहित वाद और मूल ढांचा सिद्धांत

८.१ रोस्को पाउंड का 'सोशल इंजीनियरिंग' और भारतीय न्यायपालिका

भारतीय विधिशास्त्र के व्यावहारिक विकास में भारत के सर्वोच्च न्यायालय का योगदान अद्वितीय और ऐतिहासिक रहा है। न्यायालय ने स्वयं को केवल संसद द्वारा बनाए गए कानूनों को अक्षरशः लागू करने वाली एक यांत्रिक संस्था (Mechanical Institution) के रूप में सीमित नहीं रखा, बल्कि उसने संविधान के एक सजग, सचेत संरक्षक और समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र (Sociological Jurisprudence) के प्रणेता के रूप में कार्य किया है। अमेरिकी विधिक दार्शनिक रोस्को पाउंड के 'सोशल इंजीनियरिंग' (Social Engineering) के सिद्धांत के अनुसार, कानून का मुख्य कार्य समाज में मौजूद विभिन्न परस्पर विरोधी हितों (व्यक्तिगत हित, सार्वजनिक हित और सामाजिक हित) के बीच न्यूनतम घर्षण के साथ अधिकतम संतुलन स्थापित करना और सामाजिक प्रगति को गति देना है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने इस सिद्धांत को पूरी निष्ठा के साथ आत्मसात किया है।

इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण १९८० के दशक में 'लोकहित वाद' (Public Interest Litigation - PIL) की शुरुआत है। न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती और न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्ण अय्यर के क्रांतिकारी प्रयासों से विकसित हुई इस व्यवस्था ने पारंपरिक पाश्चात्य विधिक सिद्धांत 'लोकस स्टैंडाई' (Locus Standi - अर्थात् केवल वही व्यक्ति न्यायालय जा सकता है जिसके विधिक अधिकारों का हनन हुआ हो) को शिथिल कर दिया। न्यायालय ने व्यवस्था दी कि भारत जैसे गरीब और अशिक्षित समाज में, जहाँ आबादी का एक बड़ा हिस्सा अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं है या अदालतों तक पहुँचने में असमर्थ है, वहाँ समाज का कोई भी जागरूक नागरिक, स्वयंसेवी संगठन या पत्रकार उन असहाय, बंधुआ मजदूरों, कैदियों और शोषितों के अधिकारों की रक्षा के लिए सीधे सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर सकता है। यहाँ तक कि न्यायालय ने समाचार पत्रों की कतरनों और पोस्टकार्डों को भी विधिक याचिका के रूप में स्वीकार किया। इस नवाचार ने न्याय को अमीर और शक्तिशाली लोगों के महलों से निकालकर समाज के अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति की झोपड़ी तक पहुँचा दिया, जो भारतीय विधिशास्त्र के गहरे मानवीय और कल्याणकारी चेहरे को उजागर करता है।

८.२ मूल ढांचे का सिद्धांत (Basic Structure Doctrine): एक दार्शनिक रक्षा कवच

भारतीय विधिक दर्शन में सर्वोच्च न्यायालय का सबसे युगांतकारी और वैश्विक योगदान 'मूल ढांचे का सिद्धांत' (Basic Structure Doctrine) है, जिसे २४ अप्रैल १९७३ को 'केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य' के ऐतिहासिक मामले में १३ न्यायाधीशों की सबसे बड़ी संवैधानिक पीठ द्वारा प्रतिपादित किया गया था। यह मामला वास्तव में संसद की संविधान में संशोधन करने की असीमित शक्ति (अनुच्छेद ३६८) और न्यायपालिका द्वारा मौलिक अधिकारों की रक्षा की शक्ति के बीच चल रहे एक लंबे वैचारिक और राजनीतिक संघर्ष का परिणाम था।

न्यायालय ने एक अत्यंत सूक्ष्म और दार्शनिक निर्णय देते हुए व्यवस्था दी कि संसद को संविधान के किसी भी हिस्से में, यहाँ तक कि मौलिक अधिकारों में भी संशोधन करने का व्यापक अधिकार है, परंतु यह अधिकार असीमित नहीं है। संसद अपनी संशोधनकारी शक्ति का प्रयोग करके संविधान के 'मूल ढांचे' (Basic Structure) या उसकी अंतर्निहित 'आत्मा' को नष्ट, विकृत या समाप्त नहीं कर सकती। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि संविधान निर्माता संसद को यह शक्ति कभी नहीं दे सकते थे कि वह संशोधन के बहाने खुद संविधान को ही समाप्त कर दे। यद्यपि संविधान में 'मूल ढांचा' शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, न्यायालय ने समय-समय पर अपने निर्णयों के माध्यम से लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, विधि का शासन, न्यायपालिका की स्वतंत्रता, संसदीय प्रणाली, और शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Powers) को मूल ढांचे का अनिवार्य अंग घोषित किया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से, मूल ढांचे का सिद्धांत जर्मन विधिक विद्वान डीटर कोनराड के 'अंतर्निहित सीमाओं के सिद्धांत' (Theory of Implied Limitations) पर आधारित है। यह सिद्धांत विधिक सकारात्मकता (जो यह मानती है कि लिखित कानून ही सर्वोच्च है) पर एक प्रकार का प्राकृतिक और नैतिक विधिक अंकुश लगाता है। यह स्थापित करता है कि किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुमत की तानाशाही को रोकने के लिए कुछ शाश्वत विधिक मूल्य होने चाहिए जिन्हें संसद का अस्थायी बहुमत भी नहीं बदल सकता। यह सिद्धांत भारतीय न्यायपालिका द्वारा वैश्विक संवैधानिक कानून (Global Constitutional Law) को दिया गया एक ऐसा उपहार है, जिसे बाद में बांग्लादेश, नेपाल और दक्षिण अफ्रीका जैसे कई देशों के न्यायशास्त्र ने भी अपने यहाँ अपनाया।

९. समकालीन विधिक-दार्शनिक चुनौतियाँ (Contemporary Legal-Philosophical Challenges)

२१वीं सदी के तेजी से बदलते वैश्विक, तकनीकी और सामाजिक परिदृश्य में भारतीय विधिशास्त्र के समक्ष कई नई और जटिल दार्शनिक चुनौतियाँ उभर कर सामने आई हैं। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए कानून की पारंपरिक व्याख्याओं से आगे बढ़कर एक नए और प्रगतिशील दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इनमें से कुछ प्रमुख चुनौतियाँ निम्नलिखित हैं:

१. धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा का संकट: पाश्चात्य विधिशास्त्र में धर्मनिरपेक्षता (Secularism) का अर्थ राज्य और धर्म के बीच एक पूर्ण और अभेद्य दीवार (Wall of Separation) से है, जैसा कि फ्रांस के 'लाइसीते' (Laïcité) दर्शन में देखा जाता है, जहाँ राज्य सार्वजनिक जीवन में धर्म के प्रति पूरी तरह उदासीन या निषेधात्मक रुख अपनाता है। इसके विपरीत, भारतीय धर्मनिरपेक्षता का दार्शनिक आधार 'सर्वधर्म समभाव' की प्राचीन परंपरा पर टिका हुआ है। यहाँ राज्य सभी धर्मों का समान आदर करता है (Positive Secularism) और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करता है, किंतु साथ ही सामाजिक सुधारों (जैसे छुआछूत का अंत, महिलाओं के अधिकार और लैंगिक न्याय) के लिए धार्मिक मामलों में सीमित और युक्तियुक्त हस्तक्षेप भी कर सकता है। समकालीन विमर्श में, बहुसंख्यकवाद और अल्पसंख्यक तुष्टिकरण के द्वंद्व के बीच इस नाजुक दार्शनिक संतुलन को बनाए रखना न्यायपालिका के लिए एक कठिन परीक्षा बन गया है।

२. तकनीकी क्रांति और डिजिटल विधिशास्त्र: कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), डेटा माइनिंग, जैव-तकनीकी (Biotechnology) और वैश्विक डिजिटल नेटवर्क के इस युग में मानवीय स्वतंत्रता और गोपनीयता (Privacy) के आयाम पूरी तरह बदल गए हैं। पुट्टस्वामी निर्णय में न्यायालय ने यद्यपि निजता को अनुच्छेद २१ के तहत एक मौलिक अधिकार घोषित कर दिया है, परंतु राज्य द्वारा नागरिकों की निगरानी (Surveillance State) और निजी तकनीकी कंपनियों द्वारा डेटा के व्यावसायिक दुरुपयोग को रोकने के लिए हमारे पास अभी भी एक सुदृढ़ विधिक दर्शन का अभाव है। एआई द्वारा लिए गए निर्णयों की कानूनी जवाबदेही किसकी होगी? इस प्रश्न का उत्तर खोजना विधिक दर्शनशास्त्र की एक नई चुनौती है।

३. न्याय वितरण प्रणाली का संकट और संस्थागत विश्वसनीयता: भारतीय विधिशास्त्र का एक अत्यंत चिंताजनक व्यावहारिक पहलू हमारी न्याय प्रणाली में होने वाली अत्यधिक देरी और विधिक प्रक्रियाओं का अत्यधिक खर्चीला होना है। विधिक सूक्ति है कि 'न्याय में देरी, न्याय से वंचित करना है' (Justice delayed is justice denied)। देश की अदालतों में करोड़ों मुकदमों का लंबित होना आम आदमी के भीतर कानून के शासन के प्रति विश्वास को कमजोर करता है। इसके अतिरिक्त, न्यायपालिका की आंतरिक नियुक्तियों में पारदर्शिता की कमी (कॉलेजियम प्रणाली का विवाद) और कार्यपालिका के साथ उसके संबंधों को लेकर उठने वाले सवाल विधिक दर्शनशास्त्र के अंतर्गत संस्थागत स्वतंत्रता की दार्शनिक अवधारणा को चुनौती देते हैं। इन समस्याओं के समाधान के लिए पारंपरिक भारतीय 'मध्यस्थता' (Mediation) और वैकल्पिक विवाद समाधान (ADR) प्रणालियों को आधुनिक विधिक ढांचे में प्रभावी ढंग से एकीकृत करने की आवश्यकता है।

१०. निष्कर्ष (Conclusion)

उपर्युक्त विधिक, ऐतिहासिक और दार्शनिक विमर्श के आलोक में यह अकादमिक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय संविधान केवल एक राजनीतिक समझौता या प्रशासनिक नियमावली नहीं है, बल्कि यह एक महान और प्राचीन सभ्यता की आधुनिक न्यायप्रिय आकांक्षाओं का जीवंत दार्शनिक दस्तावेज है। भारतीय विधिशास्त्र ने अपनी सात दशकों से अधिक की यात्रा में पाश्चात्य कानूनी सकारात्मकता (Legal Positivism), प्राकृतिक विधि (Natural Law), और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (Sociological Approach) का एक ऐसा अनूठा और मौलिक मिश्रण तैयार किया है जो विश्व के किसी अन्य संवैधानिक विमर्श में देखने को नहीं मिलता।

इस सम्पूर्ण विधिक ढांचे की सबसे बड़ी दार्शनिक ताकत इसकी गतिशीलता और अनुकूलनशीलता (Dynamism and Adaptability) है। इसने समय के साथ खुद को जड़ होने से बचाया है। न्यायपालिका ने अपनी सक्रियता के माध्यम से प्राचीन भारतीय 'धर्म' की मूल लोक-कल्याणकारी और नैतिक भावना को आधुनिक युग में 'संवैधानिक नैतिकता' (Constitutional Morality) के रूप में पुनर्जीवित किया है। संविधान सभा के समापन अवसर पर डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा कही गई यह बात आज भी उतनी ही प्रासंगिक है कि 'संविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि उसे चलाने वाले लोग बुरे होंगे, तो वह अंततः बुरा साबित होगा; और यदि उसे चलाने वाले लोग अच्छे होंगे, तो वह निश्चित रूप से अच्छा साबित होगा।' इसका तात्पर्य यह है कि कानून की प्रभावशीलता केवल उसके लिखित शब्दों में नहीं, बल्कि उसे लागू करने वालों की नैतिक निष्ठा में होती है।

अंततः, भारतीय विधिशास्त्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारे लोकतंत्र के तीनों स्तंभ—विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका—संविधान की प्रस्तावना में निहित दार्शनिक मूल्यों के प्रति कितने ईमानदार और प्रतिबद्ध रहते हैं। भारतीय संविधान का यह दार्शनिक एवं विधिक अध्ययन हमें निरंतर यह स्मरण कराता रहता है कि कानून का अंतिम ध्येय और लक्ष्य राज्य की शक्ति का संरक्षण या बहुसंख्यकों का प्रभुत्व स्थापित करना नहीं है, बल्कि समाज के अंतिम छोर पर खड़े सबसे कमजोर व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता, न्याय और उसकी मानवीय गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखना है। यही भारतीय संविधान का शाश्वत दर्शन है और यही भारतीय विधिशास्त्र का मूल मर्म है।

११. विस्तृत संदर्भ ग्रंथ सूची (References & Bibliography)

[1] अंबेडकर, बी.आर. (१९४९). 'संविधान सभा के वाद-विवाद (Constituent Assembly Debates)', भारत सरकार प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली.
[2] ऑस्टिन, ग्रेनविले (१९६६). 'द इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन' (The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
[3] बख्शी, पी.एम. (२०२०). 'भारत का संविधान' (The Constitution of India), यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, नई दिल्ली.
[4] कश्यप, सुभाष (२०१८). 'हमारी संसद और हमारा संविधान', नेशनल बुक ट्रस्ट, भारत, नई दिल्ली.
[5] त्रिपाठी, बी.एन.मणि (२०१९). 'विधिशास्त्र और कानूनी सिद्धांत' (Jurisprudence and Legal Theory), इलाहाबाद लॉ एजेंसी, इलाहाबाद.
[6] सिंह, अवतार (२०१८). 'प्रशासनिक विधि और विधिशास्त्र', ईस्टर्न बुक कंपनी, लखनऊ.
[7] पालकीवाला, एन.ए. (१९७४). 'आर कॉन्स्टिट्यूशन: डिफेस्ड एंड डिफाइल्ड' (Our Constitution: Defaced and Defiled), मैकमिलन इंडिया, मुंबई.
[8] रॉल्स, जॉन (१९७१). 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (A Theory of Justice), हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.
[9] महापात्र, रामचंद्र (२०इ५). 'प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र और आधुनिक विधि', चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली.
[10] डाइसी, ए.वी. (१८८५). 'एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ द लॉ ऑफ द कॉन्स्टिट्यूशन' (An Introduction to the Study of the Law of the Constitution), मैकमिलन, लंदन.
[11] पाउंड, रोस्को (१९५९). 'विधिशास्त्र' (Jurisprudence), वेस्ट पब्लिशिंग कंपनी, मिनेसोटा.
[12] सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक न्यायिक निर्णय सन्दर्भ:
- ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य, AIR 1950 SC 27.
- चंपाकम दोराईराजन बनाम मद्रास राज्य, AIR 1951 SC 226.
- केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, AIR 1973 SC 1461.
- मेनका गांधी बनाम भारत संघ, AIR 1978 SC 597.
- मिनर्वा मिल्स लिमिटेड बनाम भारत संघ, AIR 1980 SC 1789.
- जस्टिस के.एस. पुट्टस्वामी (सेवानिवृत्त) बनाम भारत संघ, (2017) 10 SCC 1.

Copyright & License:

© Authors retain the copyright of this article. This work is published under the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY 4.0), permitting unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.